आधुनिक हिन्दी साहित्य

लेखक
विजयेन्द्र स्नातक
क्षेमचन्द्र 'सुमन'

१९५७
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य रु० २.००

मुद्रक
मुवीज् प्रेस
चावड़ी बाज़ार, दिल्ली-६

दो शब्द

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिवृत्त प्रस्तुत करते समय हमारे पूर्ववर्ती अनेक लेखकों ने पर्याप्त शोध तथा व्यक्तिगत प्रतिभा एवं विद्वत्ता का परिचय दिया है। पठन-पाठन-परम्परा के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास सर्वाधिक प्रचलित है और प्रायः बाद के सभी लेखकों ने शुक्ल जी की प्रणाली को ही स्वीकार करके इतिहास-ग्रन्थों का प्रणयन किया है। हमारा यह इतिहास किसी नवीन अनुसन्धान की बात का परिचय देने वाला है अथवा इसमें नूतन उद्भावनाओं को स्थान मिला है---हम नहीं कहते; किन्तु माध्यमिक कक्षाओं में पढ़ने वाले हिन्दी-प्रेमी विद्यार्थियों के लिए इस इतिहास में सामग्री का चयन उपादेयता तथा आवश्यकता के आधार पर किया गया है। आधुनिक साहित्य का वर्णन कई दृष्टियों से पूर्ण और समीचीन है, जो प्रायः संक्षिप्त कहे जाने वाले इतिहासों में नहीं मिलता।

प्रारम्भ में हिन्दी-भाषा के विकास के झाँकी भाषा-विज्ञान के आधार पर दी गई है, जो हिन्दी-भाषा की स्थिति और विकास का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक थी। हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग से पूर्ववर्ती युगों का संक्षिप्त परिचय कराने के उद्देश्य से इस पुस्तक में उन युगों की झाँकी 'सिंहावलोकन' शीर्षक के अन्तर्गत दे दी गई है।

हमारा विश्वास है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के इस संक्षिप्त इतिवृत्त से माध्यमिक श्रेणी के विद्यार्थियों को अभिप्रेत ज्ञान-सामग्री उपलब्ध हो सकेगी।

—लेखकद्वय

क्रम

: १ :

हिन्दी-भाषा : उत्पत्ति और विकास

भाषा-तत्त्ववेत्ताओं ने संसार की भाषाओं के इतिहास को वंश-क्रम की भाँति कुलों, उपकुलों, शाखाओं, उपशाखाओं तथा समुदायों में विभक्त किया है। इस प्रकार से उन्होंने संसार की समस्त भाषाओं को बारह कुलों में विभाजित किया है और उनमें सबसे महत्त्वशाली तथा प्रथम स्थान रखने वाला भारत-यूरोपीय कुल है; जिसे आर्य भारत, जर्मनिक और जफेटिक नाम से भी पुकारते हैं। परन्तु यह नाम ही सबसे उत्तम और उपयोगी हैं, क्योंकि भारत यूरोपीय कुल में उन भाषाओं का समावेश है, जो उत्तरी भारत, अफ़गानिस्तान तथा प्रायः सम्पूर्ण यूरोप में बोली जाती हैं।

इस प्रकार भारत यूरोपियन(भारोपीय)कुल को भी देश और उसके विभिन्न स्वरूपों की दृष्टि से आठ उपकुलों में विभक्त किया है। जिसमें सबसे प्रथम आर्य अथवा भारत ईरानी उपकुल का परिगणन होता है। इसी प्रकार आर्य अथवा भारत ईरानी उपकुल की तीन शाखाएँ (१) ईरानी, (२)पैशाची या दर्द और(३)भारतीय आर्य भाषा हैं।

भारतीय आर्य भाषा अथवा आर्यावर्तीय शाखा को शीन कालों में बाँटा गया है—(१)प्राचीन काल,(२)मध्य काल और(३)आधुनिक काल। इसी आधुनिक काल में आर्य-भाषा हिन्दी का भी स्थान है। इस प्रकार संसार के भाषा-समूहों में यूरोपीय कुल के भारत-ईरानी-उपकुल में भारतीय आर्य शाखा की आधुनिक भाषाओं में से एक मुख्य भाषा हिन्दी है।

प्राचीन काल को आज तक की खोज के आधार पर १५०० ईस्वी पूर्व

से ५०० ईस्वी पूर्व माना जाता है । इस काल की जनता की बोली का कोई स्वरूप अब उपलब्ध नहीं है । हाँ, साहित्यिक रूप के नमूने 'ऋग्वेद' में अवश्य मिलते हैं । इसके पश्चात् उस भाषा में भी विलष्टता होने लगी, अतएव जनता में बोली जाने वाली भाषा तथा साहित्यिक भाषा में अन्तर होता चला गया । सूत्र-काल में प्राचीन वैदिक भाषा को और भी अधिक साहित्यिक रूप दिया गया तथा प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने उसको व्याकरण के सूत्र-जाल में ऐसा जकड़ा कि वही रूप आज तक प्रचलित है । वैयाकरणों द्वारा बताये गए इस साहित्यिक रूप का नाम संस्कृत(क्लासिकल संस्कृत) पड़ा । जनता की भाषा इससे सर्वथा भिन्न होती चली गई और फिर उसने नया रूप धारण करके कुछ सन्तों(महात्मा बुद्ध आदि)द्वारा साहित्य में भी प्रवेश किया । मध्य काल में जिसका समय ५०० ई० पूर्व से १००० ई० तक माना जाता है, उसी प्राचीन भाषा का नाम पालि अथवा प्रथम प्राकृत रखा गया । किन्तु उससे जनता की भाषा में फिर भिन्नता हो गई । उस समय जनता की भाषा पालि के नाम से पुकारी गई । बौद्ध धर्म का जनता में अधिक प्रचार होने का यह भी एक मुख्य कारण था कि उसकी शिक्षा जनता की भाषा पालि में दी गई । बौद्ध धर्म का साहित्य पालि (प्रथम प्राकृत) में ही लिखा गया । महाराज अशोक ने भी इसी भाषा में धर्म-लिपियाँ तैयार कराईं ।

द्वितीय प्राकृत भाषा भी तीन भिन्न रूपों में प्रचलित थी—(१) पूर्वी प्रान्तों में मागधी प्राकृत,(२)पश्चिमी प्रान्तों में शौरसेनी प्राकृत, जो गुजरात महाराष्ट्र आदि तक में बोली जाती थी तथा इन दोनों के बीच की भाषा और(३)अर्द्धमागधी । पालि से भिन्न होकर प्राकृत ने साहित्य में जब अपना स्थान बना लिया और वह जनता से दूर पड़ गई तब जनता की बोली ने एक नया चोला बदला और फिर वह इन प्राकृतों का रूप बदलकर अपभ्रंश भाषाओं के नाम से प्रख्यात हुई । ५०० ईस्वी तक इन अपभ्रंश-भाषाओं का प्रचार रहा । कुछ समय तक जनता और साहित्य की भाषा एक रही और वही तीन प्राकृत भाषाएँ अब तीन अपभ्रंशों के नाम से पुकारी गईं—(१) पश्चिमी शौरसेनी अपभ्रंश, (२) पूर्वी मागधी अपभ्रंश और

(३) बीच की अर्द्ध मागधी अपभ्रंश। इन अपभ्रंशों ने भी जब साहित्यिक रूप धारण कर लिया तो ये जनता के सम्पर्क से दूर चली गईं, क्योंकि इसको भी विद्वानों ने व्याकरण के नियमों में जकड़कर पोथी-पुस्तक तथा केवल साहित्यिक भाषा बनाकर जनता से अलग कारागार में बन्द कर दिया। इसके पश्चात् युग-परिवर्तन का समय आया और इन्हीं अपभ्रंशों से देश की विभिन्न भाषाओं की उत्पत्ति हुई।

ऊपर तीन कालों का जो समय निर्धारित किया गया है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि काल तभी से प्रारम्भ होता है अथवा उस काल की भाषाओं की उत्पत्ति और विकास उसी काल में हुआ है। उस काल को ठीक पैमाना मान लेना भूल होगी, क्योंकि कोई भी भाषा अपना स्वरूप शताब्दियों में निश्चित कर पाती है। उसकी उत्पत्ति को निश्चित समय में मापना असम्भव है। प्रत्येक भाषा को पहले जनता में अपना स्वरूप उत्पन्न करने में चुपचाप सैंकड़ों वर्ष व्यतीत करने पड़ते हैं तब कहीं वह प्रकट होती है और अपना नामकरण कराती है। उसके सूत्रपात की तिथि का निश्चय अनुमान से बाहर है। प्राचीन काल में ही मध्य काल की भाषा पनपती रही, उसका साम्राज्य स्थापित हो जाने पर प्राचीन काल की समाप्ति और मध्य काल का आरम्भ समझा जाने लगा। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मध्य काल की भाषा सर्वथा लुप्त हो गई। ऐसा कभी भी नहीं होता, सदियों तक वह पर्याप्त मात्रा में साहित्य में पनपती और फलती-फूलती रहती है और विद्वान् लोग उसका प्रयोग करते रहते हैं। इसी प्रकार मध्य काल की भाषाओं का साहित्यिक रूप अब भी वही है, जो तब था। यही नहीं, प्राचीन काल की संस्कृत आज भी अपने उसी रूप को लिये हुए साहित्य में प्रयुक्त की जाती है। इसी प्रकार आधुनिक काल की भाषाओं की जड़ मध्य काल में ही शताब्दियों पूर्व से जम गई थी और उसके पनपने पर जब उसने नया रूप धारण किया तो मध्य काल की समाप्ति समझी गई और आधुनिक काल का प्रारम्भ माना गया। इस प्रकार भाषाएँ शताब्दियों में अपना रूप निश्चित करके प्रकट होती हैं।

सारांशतः हमारे देश की समस्त आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति अपभ्रंश

: २ :

सिंहावलोकन

हिन्दी साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से हमें यह भली भाँति विदित हो जाता है कि समय और परिस्थितियों के साथ-साथ साहित्य में भी परिवर्तन होता रहा है। जिस समय जैसी परिस्थिति देश की रही वैसी ही विचार-धारा तत्कालीन साहित्य में भी अवतरित हुई। क्योंकि साहित्य तो मानव-समाज की विचार-धाराओं का प्रतिबिम्ब होता है, अतः साहित्य का निर्माण भी समयानुसार ही हुआ। देश के विप्लवकारी वातावरण में यदि वीर-रस प्रधान साहित्य की सृष्टि हुई तो अशांति और विषाद के दिनों में शान्ति की प्राप्ति के लिए भक्ति-विषयक रचनाओं का भी गुंजन हुआ। इसी प्रकार जब शान्त और सुखमय समय में जनता की रुचि प्रेम और शृंगार की ओर प्रवृत्त हुई तो उस समय शृंगारिक साहित्य का निर्माण हुआ। परिणाम-स्वरूप जब देश में विभिन्न विषम परिस्थितियाँ समान रूप से जनता के सामने आईं तो साहित्य का रूप भी बहुमुखी हो गया।

काल विभाजन

उक्त भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी-साहित्य के इतिहास को निम्न चार भागों में विभक्त किया गया है—

१. वीर-प्रशस्ति-युग (संवत् १०५० से १३७५ तक)
२. भक्ति युग (संवत् १३७५ से १७०० तक)
३. शृंगार युग (संवत् १७०० से १६०० तक)
४. नव चेतना युग (संवत् १६०० से आज तक)

प्रत्येक युग का नामकरण उस युग की प्रवृत्तियों के आधार पर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। जैसे आदि काल में वीर-रस-सम्बन्धी रचनाओं की प्रधानता रही तो उसका नाम वीर-प्रशस्ति-युग पड़ा। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उस काल में केवल एक ही प्रकार के साहित्य का सृजन होता रहा, अन्य प्रकार की रचनाएँ हुई ही नहीं। हमारा आशय उस समय की प्रधान प्रवृत्तियों से है। जैसी रचनाओं का बाहुल्य जिस काल में रहा, वैसा ही उसका नाम भी पड़ा।

आरम्भ

हिन्दी साहित्य का आरम्भ वीर-प्रशस्ति-युग से होता है। वह समय बड़ी उथल-पुथल और अशान्ति का था। सम्राट् हर्षवर्द्धन की मृत्यु (संवत् ७४४ वि०) के उपरान्त देश में कोई भी केन्द्रीय शासन न रहा और भारतवर्ष छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। यह राजपूतों के विकास का समय था। कन्नौज, दिल्ली और अजमेर राजपूतों के शक्तिशाली राज्य थे। शक्ति-विस्तार, वीरता-प्रदर्शन, देश-रक्षा और सुकुमारी सुन्दरियों को प्राप्त करने के लिए युद्ध किये जाते थे। राजाओं के आश्रित कवि चारण-भाट आदि अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में काव्य-रचना करके उन्हें प्रसन्न किया करते थे।

शैशव काल

देश के जिस भू-भाग में जिस समय ऐसी अशान्ति तथा अन्धकार का साम्राज्य छाया हुआ था, उसी भू-भाग में लगभग उसी समय अपभ्रंश भाषाओं से उत्पन्न होकर हिन्दी-साहित्य अपना शैशव काल व्यतीत कर रहा था। हिन्दी की इस शैशवावस्था में देश की जैसी स्थिति थी, उसीके अनुरूप उसका साहित्य भी विकसित हुआ। भीषण हलचल तथा घोर अशान्ति के उस युग में वीर-प्रशस्ति की ही रचना सम्भव थी। साहित्य में सर्वतोमुखी उन्नति उस काल में ही हो नहीं सकती थी। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश लड़ाइयों में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान रूप में व्याप्त रहती है, उस काल में वीरोल्लासिनी कविताओं की ही गूंज देश-

भर में सुनाई पड़ती है ।

वीर-प्रशस्ति युग

वीर-प्रशस्ति-काव्य में बहुत-कुछ तो देश के तत्कालीन सामन्तों की रूढ़िगत प्रशंसा है, उनकी प्रेम-कहानियों का वर्णन है । चारण-भाट लोग अपने वीर पराक्रमी आश्रयदाता की प्रशंसा में काव्य-रचना करके उसकी वीरता का बखान करते थे । युद्ध और पराक्रम का विषय अधिकांश सुकुमारता हुआ करता था । यदि किसी सुन्दरी बाला के लिए युद्ध न भी किया गया हो तो भी उसकी कल्पना कर ली जाती थी । इस प्रकार चारण-काव्य में वीर रस के साथ-साथ श्रृंगार रस की रचनाएँ भी होती रहीं । इस प्रकार के काव्य-ग्रन्थों में 'पृथ्वीराज रासो', 'खुमान रासो', 'वीसलदेव रासो', 'आल्हखंड' इत्यादि प्रमुख हैं । इस काव्य में छप्पय, दूहा, तोमर, तोटक, गाहा और आर्या आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है । कुछ चारण-काव्य डिंगल भाषा में भी रचा गया है ।

चन्दबरदाई की 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'खुमान रासो' आदि रचनाओं के बाद अमीर खुसरो की मसनवियों और पहेलियों का और भी महत्त्व है । जिस प्रकार चन्दबरदाई आदि वीर-गाथाकारों की रचना से तत्कालीन हिन्दू-मनोवृत्ति का परिचय मिलता है और हिन्दुओं के राज-दरबारों की अवस्था का अभिज्ञान होता है उसी प्रकार अमीर खुसरो की रचनाओं में हम मुसलमानों के उन मनोभावों की झलक पाते हैं, जो उनके इस देश में आकर बस जाने के उपरान्त प्रादुर्भूत हुई थीं । इस विचार से यद्यपि हम खुसरो की कृतियों में साधारण जनता की चित्तवृत्तियों की छाप नहीं पाते, परन्तु परिस्थिति से परिचित होने के लिए हमें उनकी उपयोगिता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी ।

भक्ति-युग का आरम्भ

मुसलमानों का राज्य समस्त भारत में स्थापित हो गया । वीर-गाथाएँ समाप्त हुईं । वीर-प्रशस्ति-काव्य का अन्त हुआ और भक्ति-काव्य का प्रारम्भ । लगभग ३०० वर्ष तक भक्ति-रस की काव्य-रचना होती रही । भक्ति युग के पश्चात् श्रृंगार युग आया । यह समय (संवत् १७०० से १९०० तक) विशेष रूप से श्रृंगार और रीति (अलंकार, रस आदि) सम्बन्धी काव्य-रचना

का ही माना जाता है। पर इस युग में भी चारण-काव्य के समान रचनाएँ हुई हैं। वीर-रस की कविता द्वारा कुछ कवियों ने हिन्दू-रक्त को जमाना चाहा। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के पराक्रम की प्रशंसा में ग्रंथ रचे और सोती हुई हिन्दू जाति में जीवन डालने का प्रयत्न किया। उस समय भूषण, पद्माकर, लाल कवि, जोधराज, सूदन तथा चन्द्रशेखर आदि कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में अनेक वीर-गाथाओं की रचनाएँ कीं।

इन दरबारी कवियों के साथ इनसे बिलकुल विपरीत दूसरी परिपाटी के कवि थे। सन्त कवि, इनका सम्बन्ध राज-दरबारों से न था। ये साधारण जनता के बीच में जीवन बिताते थे और अपने गीतों से जनता में जीवन की आशा जगाए रहते थे। इन सन्त कवियों में सबसे उग्र और विद्रोही मनोवृत्ति के थे कबीर। उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक आडम्बरों को एक साथ चुनौती देकर सामन्तवादी कवियों को ललकारा, समाज के नीचे से नीचे वर्गों से उनका सम्पर्क था। इन वर्गों में कबीर ने आत्म-सम्मान की भावना जगाई। ईश्वर एक है, वह हमारा भी है, कोई उच्च कुल में उत्पन्न होने से ही बड़ा नहीं हो जाता। कबीर ने उन लोगों की भी खूब खबर ली जो एक ओर तो इन्सान की महत्ता घोषित करते थे, परन्तु दूसरी ओर जनता को लूटने-खसोटने में किसी तरह की कमी नहीं करते थे। यद्यपि इस उद्योग में उन्हें पूरी-पूरी सफलता नहीं हुई, तथापि वह स्पष्ट है कि कबीर के निर्गुणवाद ने तुलसी और सूर के सगुणवाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया और उत्तरी भारत के भावी धर्ममय जीवन के लिए उसे बहुत-कुछ संस्कृत और परिष्कृत कर दिया। कबीर के समकालीन दादू, मलूक और सुन्दरदास भी उसी विचार-धारा के हैं।

इस प्रकार भक्ति-काव्य में प्रेम-मार्गी और ज्ञान-मार्गी दो शाखाएँ हो गईं और दोनों की दिशाएँ भी बदल गईं। ज्ञान-मार्गी शाखा के प्रमुख स्तम्भ कबीर ही थे। प्रेम-मार्गी शाखा में निर्गुण और सगुण नाम की दो धाराएँ हो गईं। निर्गुण के जायसी, उसमान, नूर मुहम्द, कासिम शाह आदि मुसलमानि कवि प्रमुख हैं। किसी भी हिन्दू कवि ने प्रेम-मार्गी काव्य की एक भी पंक्ति नहीं

लिखी। इसी धारा के कवियों ने पिछली धारा के कवियों को प्रबन्ध-काव्य की शैली का भी निर्देश किया।

सगुण धारा में राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति नाम की दो काव्य-प्रेरणाओं ने कार्य किया। पहली के प्रमुख कवि तुलसीदास और दूसरी के सूरदास हैं। तुलसीदास ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के जीवन को लेकर 'रामचरित मानस' की रचना की। यह महाकव्य विश्व के काव्य-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। इस धारा के कवियों में नाभादास, हृदयराम और प्राणचन्द चौहान आदि कवि भी हुए हैं, जिन्होंने राम-काव्य की रचना की है। महाकवि केशव ने भी 'राम-चन्द्रिका' नाम का एक रीति-ग्रन्थ लिखा। अलंकार-योजना, छन्दों की छटा तथा गति आदि गुण केशव के काव्य की विशेषताएँ हैं।

ईसा की चौथी सदी से कृष्ण देवता के रूप में माने जाने लगे थे। समय के साथ ही कृष्ण-भक्ति का प्रचार भी बढ़ता गया और वासुदेव (कृष्ण) भगवत् धर्म के देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। जयदेव का 'गीत गोविन्द' इसी कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी शृंगार-भावना का उत्कृष्ट उदाहरण है। पन्द्रहवीं शताब्दी में विद्यापति (१४६० के लगभग) में कृष्ण (शृंगारी) काव्य की रचना की। सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य (संवत् १५३५ से १५८७ तक) ने देश-भर में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। कृष्ण-काव्य में मीरा की कविता का स्थान बहुत ऊँचा है। वह कृष्ण के प्रेम में सदा तल्लीन रहती, और कृष्ण-प्रेम की बेल को आँसुओं के जल से सींचती रहती थी। सूरदास कृष्ण-काव्याकाश के ज्वलन्त नक्षत्र हैं। उनके बिना कृष्ण-काव्य ही अधूरा रह जायगा। उनकी रचनाओं में वात्सल्य और शृंगार (संयोग और वियोग दोनों) रस का चित्रण बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है। सूरदास के समान उत्कृष्ट तथा स्वाभाविक वात्सल्य रस का वर्णन करने वाला दूसरा कवि कदाचित् ही हो। उनकी धारा के कवियों में नन्ददास तथा रसखान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

शृंगार-युग

हिन्दी में सूर और तुलसी के समय तक साहित्य की इतनी अधिक अभिव्यक्ति हो चुकी थी कि कुछ लोगों का ध्यान भाषा और भावों को अलंकृत

करने तथा संस्कृत की काव्य-रीति का अनुसरण करने की ओर खिंच रहा था। इसका यह आशय कदापि नहीं कि सूर, तुलसी तथा उनसे पूर्ववर्ती कवियों में आलंकारिकता नहीं की अथवा वे काव्य-रीति से परिचित ही न थे। हिन्दी साहित्य के इस युग को हम शृंगार-युग के नाम से इसलिए पुकारते हैं कि इसके उन्नायक कवियों ने काव्य-कला की परिपुष्टि की ही प्रधान-मान कर शेष सब बातों को गौण कर दिया और मुक्तकों द्वारा एक-एक अलंकार, एक-एक नायिका अथवा एक-एक ऋतु का वर्णन किया है। इस काल के प्रमुख कवियों में केशव, चिंतामणि, मतिराम, विहारी, देव, भिखारीदास, पद्माकर, भूषण और लालकवि आदि उल्लेखनीय हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दी में नव चेतना युग का आरम्भ हुआ। अब तक हिन्दी में केवल पद्य-साहित्य ही प्राप्त था, इस युग में गद्य का आरम्भ और परिष्कार हुआ। इसीलिए हमने इसे गद्य-काल का नाम भी दिया है। इस सम्बन्ध में हमें गद्य के साहित्य पर व्यापक रूप से विचार करके फिर साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों पर विचार करना होगा।

: ३ :

गद्य का विकास

नव चेतना युग को गद्य-काल के नाम से भी पुकारा जाता है । किन्तु यथार्थ में गद्य-साहित्य का आधिक्य ही इस नामकरण का कारण है । नव चेतना युग के प्रारम्भ में कविता या पद्य की अपेक्षा गद्य का ही प्राधान्य रहा और हिन्दी-भाषा को राजकीय कार्य तथा साधारण जनता की बोल-चाल की भाषा वनाने के लिए गद्य को विशेष रूप से स्वीकार करना पड़ा । वर्तमान युग से पहले हिन्दी में थोड़ा-वहुत ब्रजभाषा का गद्य मिलता है उसे हम प्राचीन गद्य के नाम से पुकारते हैं ।

प्राचीन गद्य

प्राचीन काल में हिन्दी-गद्य की रचना नहीं के वरावर ही है, किन्तु फिर भी जो थोड़ा-वहुत गद्य लिखा गया वह तत्कालीन ब्रजभाषा में ही लिखा गया । ब्रजभाषा के प्राचीन गद्य के उदाहरण कुछ गोरखपंथी ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं, जिनका निर्माण-काल सं० १४०७ के आस-पास है । गोरखपंथियों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए ही इन ग्रन्थों का निर्माण किया था । इसके पश्चात् कृष्ण-भक्ति-शाखा के अन्तर्गत लिखे गए ग्रन्थों में गद्य का नमूना मिलता है । गोसाईं विट्ठलदासजी के ग्रन्थ 'शृङ्गार रस मण्डन' में गद्य का एक अप्रौढ़ और अव्यवस्थित रूप मिलता है, जिसमें रचना के नियमों का निर्वाह नहीं है । इसके पश्चात् वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अपने धार्मिक प्रचार के लिए दो वृहत् ग्रन्थ 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ वावन वैष्णवों की वार्ता' लिखे । इन दोनों ग्रन्थों के गद्य में अपेक्षाकृत कुछ

प्रवाह और प्रौढ़ता पाई जाती है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के लेखक स्वामी विट्ठलनाथ जी बताए जाते हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' की रचना औरंगज़ेब के शासन-काल में हुई है। इसका गद्य पहले के ग्रन्थों से अधिक प्रौढ़ और व्यवस्थित है। इसकी रचना बोल-चाल की भाषा में हुई है। इसमें फारसी शब्दों का भी प्रयोग किया गया है, फिर भी इस ग्रन्थ द्वारा वर्तमान गद्य की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी।

सं० १६६० में भक्त नाभादास ने 'अष्टयाम' नामक पुस्तक व्रजभाषा-गद्य में लिखी, जिसमें श्रीरामचन्द्र जी की दिनचर्या का वर्णन है। सं० १७६७ में सुरति मिश्र ने संस्कृत-कथा से सहारा लेकर 'वैताल पच्चीसी' लिखी। आगे चलकर लल्लूलाल जी ने इसका खड़ी बोली में परिवर्तन किया। सं० १८५२ में जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से लाला हीरालाल ने 'आईने अकबरी की भाषा वचनिका' नाम की बड़ी पुस्तक लिखी। व्रजभाषा-गद्य का प्रयोग प्राचीन काल में कुछ टीकाओं में भी हुआ था, जो अव्यवस्थित और त्रुटिपूर्ण था।

खड़ी बोली का गद्य

उत्तर प्रदेश के पश्चिमी नगरों और दिल्ली के आस-पास बोली जाने वाली भाषा को खड़ी बोली कहा जाता है। मुसलमानों के सम्पर्क से इस खड़ी बोली में उर्दू-फारसी शब्द भी मिल गए थे। जब मुसलमान देश के विभिन्न भागों में फैल गए तो उनकी भाषा और रहन-सहन का प्रभाव हमारी भाषा पर भी पड़ना अनिवार्य था। अतः दिल्ली में बोली जाने वाली खड़ी बोली अब लोगों के व्यवहार में आने लगी थी। अमीर खुसरो ने खड़ी बोली में अपनी पहेलियाँ और मुकरनियाँ लिखी थीं। कुछ लोगों की यह धारणा है कि खड़ी बोली उर्दू का एक रूप है अथवा इसकी उत्पत्ति मुसलमानों के आगमन से हुई, किन्तु यह केवल भ्रम और अज्ञान-मात्र है। उर्दू के जन्म से पूर्व भी खड़ी बोली अपने व्यवहारिक रूप में प्रचलित थी। सबसे पहले तो कबीर ने खड़ी बोली का प्रयोग अपनी सधुक्कड़ी भाषा के रूप में किया। अकबर के

समय में गंग कवि ने 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' खड़ी बोली में लिखी थी। सं० १७८८ में रामप्रसाद निरंजनी ने खड़ी बोली में 'योग वाशिष्ठ' का अनुवाद किया था। सं० १८१८ में मध्यप्रदेश-निवासी पं० दौलतराम ने 'पद्म पुराण' का रूपान्तर खड़ी बोली में किया। इस प्रकार खड़ी बोली पहले भी अपने स्वतन्त्र रूप में विद्यमान थी और अब भी है। किन्तु खड़ी बोली की निष्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग खड़ी शब्द से उस भाषा को ग्रहण करते हैं जिसमें टवर्ग तथा मूर्धन्य अक्षरों का बाहुल्य होता है और जो सीधी खड़ी हुई प्रतीत होती है। कुछ लोग 'खड़ी' शब्द को 'खरी' का रूपान्तर मानते हैं। कुछ भी हो खड़ी बोली का प्रचार जिस रूप में आज हुआ है वह खड़ी-इस्ट्रैट या खरी से कोई सम्बन्ध नहीं रखती।

: ४ :

प्रथम उत्थान : प्राचीन काल

परिवर्तित परिस्थितियाँ

जब अंग्रेजी शासन देश में पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका तो उनके लिए यहाँ की भाषा सीखना आवश्यक था। उस समय यहाँ के शिष्ट समाज में दो ही भाषाएँ प्रचलित थीं। एक तो खड़ी बोली का सामान्य देशी रूप, जो यहाँ के मूल निवासियों की भाषा का रूप था, दूसरा खड़ी बोली का दरबारी रूप, जो तब फारसी के मिश्रण से उर्दू कहलाने लगा था। अंग्रेजों ने यहाँ की सामान्य भाषा अर्थात् खड़ी बोली को ही सीखना आवश्यक समझा और इसके लिए खड़ी बोली में पुस्तकें निकलवाने की व्यवस्था होने लगी। १८६० में अंग्रेजों ने कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। कालेज के हिन्दी-उर्दू अध्यापक लल्लूलालजी से 'प्रेम सागर' और सदल मिश्र से 'नासिकेतोपाख्यान' लिखाया। अंग्रेजी शासन-काल के प्रारम्भ में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भी हिन्दी-गद्य को अच्छा प्रोत्साहन दिया। उनकी धर्म-पुस्तकों का हिन्दी-रूपान्तर प्रायः खड़ी बोली-गद्य में ही हुआ। यों इसके पूर्व भी खड़ी बोली का प्रयोग 'सैयद इंशाअल्लाखाँ' द्वारा 'रानी केतकी की कहानी' और 'ज्ञानोपदेश' में हो चुका था। इस समय में खड़ी बोली-गद्य को प्रगति देने वाले चार लेखक हुए हैं—मु० सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चारों ही सं० १८६० के आस-पास वर्तमान थे।

मुन्शी सदासुखलाल—मुन्शी जी का जन्म सं० १८०२ में दिल्ली में हुआ और मृत्यु सं० १८८१ में हुई। ये जाति के कायस्थ थे और जीविकोपार्जन के

लिए अधिकतर मिर्ज़ापुर और प्रयाग में ही रहा करते थे। इन्होंने फारसी और
उर्दू में भी पुस्तकें लिखी हैं। उर्दू में ये 'नियाज़' नाम से लिखते थे। खड़ी
बोली गद्य के प्रथम लेखक होने के कारण हिन्दी-साहित्य में इनका महत्त्वपूर्ण
स्थान है। इनके सामने भाषा का कोई आदर्श नमूना नहीं था, इसलिए इनके
ग्रन्थों में तत्सम शब्दों की भरमार है। भाषा को फारसी शब्दों से बचाने का
ये बराबर प्रयत्न करते थे। इन्होंने 'सुख सागर' और 'सुरासुर निर्णय' नामक
दो ग्रन्थ लिखे हैं।

सैयद इन्शाअल्ला खाँ—इनका जन्म मुर्शिदाबाद में हुआ। इनके पिता का
नाम मीर माशाअल्लाखाँ था। सैयद इंशाअल्लाखाँ उर्दू के अच्छे शायर थे।
बङ्गाल के नवाब सिराजुद्दौला की मृत्यु हो जाने पर ये दिल्ली चले आए और
शाह आलम के आश्रम में रहने लगे। इन्होंने खड़ी बोली में 'रानी केतकी की
कहानी' लिखी। 'रानी केतकी की कहानी' इस उद्देश्य से लिखी गई थी कि
उसमें **हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न हो। ... बाहर की बोली और**
गँवारी कुछ उसमें न हो हिंदवी भी न निकले और भाखापन भी न हो।
भाखापन से उनका तात्पर्य संस्कृत-मिश्रित हिन्दी से था। यद्यपि सैयद इन्शा-
अल्लाखाँ ने अपनी भाषा को उर्दू-फारसी तथा ब्रज और अवधी आदि गँवारू
शब्दों से बचाने का प्रयत्न किया, तथापि उनकी रचना-शैली में उर्दू का अधिक
प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।

लल्लूलाल—इनका जन्म संवत् १८२० में और मृत्यु १८८२ में हुई। ये
आगरा के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्हें हिन्दी और उर्दू दोनों ही
भाषाओं का ज्ञान था, साथ ही ये संस्कृत के भी ज्ञाता थे। इन्होंने सं० १८६०
में फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक जान गिल क्राइस्ट के आदेश से 'प्रेम
सागर' लिखा। इसमें श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध की कथा का वर्णन है।
'लल्लूलाल' जी की भाषा को हम ठेठ हिन्दी नहीं कह सकते। अकबर के समय
में गंग कवि ने जिस भाषा का प्रयोग किया था, लगभग उसी प्रकार की भाषा
इनकी है। कहीं-कहीं ब्रजभाषा का भी पुट आ गया है। शैली उनकी कथा-
वाचकों-जैसी है। इनकी रचना में कवि का-सा आनन्द आता है।

सदल मिश्र—ये विहार के रहने वाले थे, और लल्लूलालजी के साथ ही फोर्ट विलियम कालेज में काम करते थे । इन्होंने खड़ी बोली में 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक लिखी है । इसकी भाषा व्यावहारिक है । लल्लूलालजी की भाँति ब्रज-मिश्रित तो नहीं है फिर भी ब्रज और पूर्वी शब्द यत्र-तत्र आ गए हैं ।

ईसाई-प्रचारकों और समाचार-पत्रों द्वारा गद्य का प्रचार

गद्य के निर्माताओं ने यद्यपि गद्य का मार्ग प्रशस्त कर दिया था, तथापि गद्य-साहित्य के विकास की गति सं० १६१५ तक रुकी रही । इसका कारण यह है कि साहित्यिकों और विद्वानों ने इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया । हाँ, खड़ी बोली के गद्य के निर्माण से ईसाई धर्म के प्रचारकों ने अवश्य लाभ उठाया । साधारण जनता में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने जन-सुलभ भापा खड़ी वोली का ही सहारा लिया । उन्होंने ईसाई-धर्म-सम्बन्धी वाईबिल आदि पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया । कहते हैं कि केरे नामक अंग्रेज-पादरी ने वाईविल का हिन्दी-अनुवाद किया था । साथ ही उत्तर भारत की अन्य भाषाओं में भी बाईबिल का अनुवाद कराया गया । ईसाई-अनुवादकों ने लल्लूलाल और सदासुखलाल की भाषा को ही अपनाया—इन्होंने उर्दू-फारसी के शब्दों से भापा को पूर्णतया समृद्ध वनाया ।

हिन्दू जनता को अपने धर्म की ओर आकर्षित करने के लिए ईसाई-धर्म-प्रचारकों तथा उनकी संस्थाओं ने पाठशालाएँ भी खोलीं । सरकार की ओर से भी इन पाठशालाओं को सहायता दी गई । साथ ही सरकारी स्कूल भी खोले गए, जिनमें अंग्रेजी के साथ उर्दू-हिन्दी की शिक्षा का भी प्रवन्ध किया गया । इसके लिए हिन्दी की पुस्तकों की आवश्यकता हुई । ईसाइयों ने छापेखाने भी खोले और अनेक विषयों पर गद्य में पुस्तकें लिखी गईं । इस प्रकार ईसाइयों ने जहाँ हमारी संस्कृति को ठेस पहुँचाई, वहाँ हिन्दी-गद्य के प्रचार में भी सहयोग दिया ।

इसी वीच हिन्दी को विरोधियों का सामना भी करना पड़ा । संवत् १८६० में एक आज्ञा द्वारा सरकार ने अदालतों में नागरी लिपि के प्रयोग को प्रारम्भ

किया। संवत् १८९३ में प्रान्तीय सदर बोर्ड की ओर से यह आज्ञा जारी की गई कि जिसे जिस भाषा में सुविधा हो, उसी में आवेदन-पत्र दे। सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों के सहयोग से सरकार की इस नीति का तीव्र विरोध किया। जिसके परिणामस्वरूप अदालतों में उर्दू स्वीकृत हो गई। इससे हिन्दी-भाषा के विकास में कुछ धक्का अवश्य लगा, क्योंकि सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए उर्दू पढ़ना आवश्यक हो गया। स्वभावतः हिन्दी की ओर से लोगों का ध्यान हट गया। इन अवरोधों के कारण कुछ समय के लिए हिन्दी की प्रगति मन्द पड़ गई।

इस संकट-काल में हमारे पत्रों ने हिन्दी की सहायता की। ईसाई-धर्म के बढ़ते हुए प्रचार को देखकर हिन्दू जनता के कान खड़े होने लगे। बंगाल में राजा राममोहनराय ने हिन्दू धर्म का प्रचार करने के लिए 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। धार्मिक ग्रंथों का हिन्दी में भाष्य किया गया। उन्होंने 'बंगदूत' नामक एक हिन्दी-पत्र भी निकाला। उसका प्रकाशन संवत् १८६६ में आरम्भ हुआ था। इस पत्र की हिन्दी साधारण कोटि की थी, जिस पर बंगला का प्रभाव स्पष्ट झलकता था। इसी समय पं० जुगलकिशोरजी ने कानपुर से 'उदन्त मार्तण्ड' नामक हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र निकाला। इन पत्रों से खड़ी बोली-गद्य को बड़ी सहायता मिली। संवत् १९०२ में राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द ने बनारस से 'बनारस अखबार' नामक पत्र निकाला। किन्तु उसकी भाषा उर्दू-मिश्रित थी। वह चल न सका। संवत् १९०७ में बाबू तारामोहन मित्र ने 'सुधाकर' नामक पत्र निकाला। संवत् १९०९ में आगरा से 'बुद्धि-प्रकाश' नामक पत्र का प्रकाशन हुआ। इन दोनों पत्रों की भाषा साधारण और अच्छी हिन्दी थी। हिन्दी-गद्य के विकास में जिन-जिन लोगों ने सहायता पहुँचाई उनका उल्लेख आगे किया जाता है।

राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द—इनका जन्म संवत् १८८० में काशी में हुआ। संवत् १९१३ में ये स्कूलों के इन्स्पैक्टर नियुक्त हुए। इनके प्रयत्न से ही स्कूलों में हिन्दी का प्रवेश हुआ था। इन्होंने स्कूलों के लिए हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकें भी लिखीं, किन्तु इनकी भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों की भरमार

रहती थी । राजा शिवप्रसाद पहले बड़ी शुद्ध हिन्दी लिखते थे । किन्तु बाद में सरकारी कर्मचारी होने के कारण सरकार को खुश करने के लिए उन्होंने 'आम फहम' भाषा का प्रचार किया । इनकी 'आम फहम' भाषा में आधी से अधिक उर्दू-फारसी होती थी । इसलिए जनता में इनकी भाषा का प्रचार नहीं हो सका । राजा साहब की मृत्यु संवत् १९२० में हुई ।

राजा लक्ष्मणसिंह—इनका जन्म १८८३ में हुआ था । ये सरकारी शासन-विभाग में कलक्टर के पद पर काम करते थे । इन्होंने हिन्दी और हिन्दू-संस्कृति की उन्नति के लिए बड़ा प्रयत्न किया । १९१८ में इन्होंने 'प्रजा-हितैषी' नामक पत्र भी निकाला था । इस पत्र की भाषा शुद्ध खड़ी बोली थी । राजा लक्ष्मणसिंह ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' का हिन्दी में अनुवाद किया । इस अनुवाद की भाषा संस्कृत-गर्भित और मधुर है । इन्होंने 'रघुवंश' का भी गद्य में अनुवाद किया । इनका गद्य बड़ा प्रांजल और प्रवाहपूर्ण है । सं० १९५३ में इनकी मृत्यु हुई ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती—स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म सं० १८८१ में गुजरात में हुआ था । ये जाति के ब्राह्मण थे । इन्होंने हिन्दू-धर्म की रक्षा और भारतीय संस्कृति के प्रचार के लिए बड़ा प्रयत्न किया । इसी उद्देश्य से इन्होंने सं० १९३५ में आर्यसमाज की स्थापना की । स्वामी जी हिन्दी को आर्यभाषा कहते थे । इन्होंने अपने 'सत्यार्थ-प्रकाश' नामक ग्रंथ की रचना हिन्दी में ही की । उस समय किसी ने स्वामी जी से पूछा था कि आपने इस ग्रंथ की रचना संस्कृत अथवा अन्य किसी भाषा में क्यों न की । इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया—मेरे सन्देश को राजमहलों से लेकर गरीब की झोंपड़ी तक पहुँचा देने वाली भाषा एक-मात्र हिन्दी ही है । इन्होंने वेदों का भाष्य भी हिन्दी में किया । स्वामी जी ने प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य घोषित कर दिया था । स्वामी जी की हिन्दी संस्कृत-मिश्रित है । उसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक है । उनकी भाषा में व्यंग का पुट भी है ।

इसी काल में पंजाब में पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम मच गई थी । उन्होंने अपने व्याख्यानों द्वारा हिन्दी का खूब प्रचार

किया और हिन्दी में कई पुस्तकें भी लिखीं। इनका 'सत्यामृत प्रवाह' नामक सिद्धान्त-ग्रंथ बड़ी प्रौढ़ भाषा में लिखा हुआ है। सं० १९३४ में इन्होंने 'भाग्य-वती' नामक एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा था, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई। इसी समय पंजाब में श्री नवीनचन्द्र राय ने हिन्दी-प्रचार के लिए प्रशंसनीय कार्य किया। ये सरकारी शिक्षा-विभाग में काम करते थे। ये विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। इन्होंने भी हिन्दी में कई पुस्तकें लिखीं।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के नव-चेतना युग के प्रथम उत्थान में खड़ी बोली-गद्य की नींव पर्याप्त सुदृढ़ हो चुकी थी। इसके पश्चात् हिन्दी-साहित्य में गद्य की दृष्टि से एक नये स्वर्णिम युग का आरम्भ हुआ, जिसके प्रवर्तक हैं भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र।

: ५ :

द्वितीय उत्थान : भारतेन्दु-काल

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से हिन्दी-गद्य में एक नये जीवन का संचार हुआ है। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। साहित्य के सभी अंगों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा। अभी तक साहित्य एक वर्ग विशेष के बौद्धिक विलास की वस्तु समझा जाता था, साधारण जनता को उससे कोई दिलचस्पी न थी। एक विशेष वर्ग ही साहित्यिक चर्चा में योग देता था। परन्तु भारतेन्दु बाबू ने साहित्य को जनता तक पहुँचाया और साहित्य को जनता का पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। उन्होंने साहित्य की प्राचीन परम्परा के प्रति विद्रोह करके उसे नवीन गति और चेतना प्रदान की। उनके समय में भाषा का स्वरूप निर्धारित हुआ। हिन्दी को न तो वे उर्दू बनाना चाहते थे और न संस्कृत ही, वे तो हिन्दी का स्वतन्त्र स्वरूप स्थिर करना चाहते थे। इसके लिए इन्होंने बीच का मार्ग ग्रहण किया। इन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के उन्हीं शब्दों को स्थान दिया जो बोल-चाल की भाषा में आते थे और उर्दू के भी उन्हीं शब्दों का व्यवहार किया, जिनको जनता ने अपना लिया था। इस प्रकार वर्तमान खड़ी बोली के स्वरूप को स्थिर करने का श्रेय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को ही है।

भारतेन्दु बाबू स्वयं एक विशिष्ट शैली के लेखक थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से अनेक उत्साही युवकों का ध्यान हिन्दी की ओर आकृष्ट किया। उनके जीवन-काल में ही लेखकों का एक मण्डल बन चुका था। इन उत्साही लेखकों ने गद्य और पद्य की नवीन दृष्टि से रचना की। अभी तक

हिन्दी में नाटकों का अभाव था। भारतेन्दु के समय में हिन्दी-नाटकों का जन्म हुआ। भारतेन्दु ने स्वयं कई नाटक लिखे और उनके अभिनय के लिए रंगमंच का प्रवन्ध कराया। नाटकों के अतिरिक्त उपन्यास और छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने की प्रथा भी इसी युग में चली। इतिहास तथा जीवनी-सम्बन्धी साहित्य का निर्माण भी इनके समय से ही होने लगा। इसके अतिरिक्त अन्य उपयोगी साहित्य का निर्माण करके भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त किया गया।

भारतेन्दु बाबू ने अपने प्रत्येक साधन द्वारा जनता के मानसिक क्षितिज को विस्तृत करने का पूरा उद्योग किया था। उन्होंने कई पत्र-पत्रिकाएँ भी निकालीं। यों उनसे पहले हिन्दी-समाचार-पत्रों का जन्म हो चुका था, किन्तु उनका जीवन अल्पकालिक ही रहा। वे कुछ दिन निकलकर वन्द हो चुके थे। उनकी भाषा और विचार-शैली भी प्रौढ़ न थी। किन्तु इस युग के पत्र एक नवीन भाषा, शैली, नवीन विचार और जीवनोपयोगी सामग्री को लेकर जनता के सामने आए। भारतेन्दु जी की 'कवि-वचन-सुधा' नामक पत्रिका में पुराने कवियों की कविताओं का संग्रह रहता था। 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' नाम का एक मासिक पत्र भी उन्होंने निकाला, जो बाद में 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के नाम से प्रख्यात हुआ। शिक्षा के लिए उन्होंने 'बाला-बोधिनी' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली। इस युग में बालोपयोगी साहित्य का निर्माण हुआ।

हम पहले लिख चुके हैं कि भारतेन्दु बाबू ने अपने व्यक्तित्व और प्रभाव से बहुत से नए लेखकों को जन्म दिया। उन लेखकों में एक विशेष उत्साह और ज़िन्दादिली थी। उस समय के लेखकों ने समाज-सुधार और राजनीतिक चेतना जागृत करने के लिए व्यंग-हास्यपूर्ण शैली का सफलता के साथ प्रयोग किया। भारतेन्दु युग के लेखकों में पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन', पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास और ठाकुर जगमोहनसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नीचे हम इस काल के प्रमुख लेखकों का संक्षिप्त परिचय देते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—आपका जन्म १९०७ में काशी के सम्पन्न और प्रतिष्ठित अग्रवाल वैश्य-कुल में हुआ था। आपके पिता बा० गोपालचन्द्र

(गिरिधरदास) अच्छे कवि और लेखक थे । भारतेन्दु जी बाल्यावस्था से ही बड़े प्रतिभाशाली थे। स्थानीय क्वीन्स कालेज में अंग्रेज़ी की शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने संस्कृत, फारसी और बंगला का भी यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सं० १६२५ में अपने 'विद्यासुन्दर' नाटक का बंगला से अनुवाद करके प्रकाशित किया। इसी समय 'कवि-वचन-सुधा' का प्रकाशन हुआ। १६३० में 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' निकाला । १६३१ में स्त्रियों के लिए 'बाला-बोधिनी' का प्रकाशन हुआ। इन्हीं दिनों आपका ध्यान नाटकों की ओर गया, तो आपने नाटकों का भी ढेर लगा दिया । आपने मौलिक नाटकों—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'चन्द्रावली', 'विषस्य विषमौषधम्', 'भारत-दुर्दशा', 'नील देवी', 'अंधेर नगरी', 'प्रेम-योगिनी' की रचना की । इनके अतिरिक्त कुछ उनके अनूदित नाटक भी हैं। जिनके नाम ये हैं—'सत्य हरिश्चन्द्र', 'मुद्रा राक्षस', 'भारत जननी', 'कर्पूर मंजरी', 'धनंजय-विजय', 'पाखण्ड विडम्बन' और 'विद्यासुन्दर'। इसके अतिरिक्त आपने नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी एक पुस्तक 'नाटक' नाम से लिखी है । नाटकों के साथ ही आपका ध्यान साहित्य के विविध अंगों की ओर गया और आपने 'बादशाह दर्पण' और 'काश्मीर कुसम' आदि ऐतिहासिक पुस्तकें भी लिखीं।

आप ब्रजभाषा में काव्य-रचना करते थे। काव्य में आपने सर्वप्रथम राष्ट्रीय प्रेम की धारा बहाकर जनता में एक नवीन जागरण उत्पन्न कर दिया। आप उच्च कोटि के लेखक, कवि, समाज-सुधारक एवं देश-भक्त थे । सं० १६४१ में केवल ३५ वर्ष की आयु में ही आपकी मृत्यु हो गई।

पं० प्रतापनारायण मिश्र—इनका जन्म सं० १६१३ में हुआ । ये कान्य-कुब्ज ब्राह्मण थे । इनके पिता उन्नाव से आकर कानपुर में रहने लगे थे। मिश्र जी स्वभाव से बड़े मौजी और हँसोड़ थे । इसीलिए इनकी रचनाओं में हास्य और व्यंग के दर्शन होते हैं। इनकी भाषा में विशेष सजीवता और बोल-चाल का चलतापन है। अपनी विनोद-प्रियता के कारण वे पूर्वीपन का ख्याल न करके बैसवाड़े के ग्रामीण शब्दों और कहावतों तक का प्रयोग कर डालते थे। साधारण विषय को भी वे मनोरंजक बना देते थे । 'ब्राह्मण' नामक पत्र में समाज-सुधार, नागरी-हिन्दी-प्रचार, देश-दशा आदि विषयों पर इनके बड़े

चटपटे लेख निकलते थे। ये स्वतन्त्र विचार के लेखक थे।

मिश्र जी ने 'कलि कौतुक', 'भारत-दुर्दशा', 'हठी-हमीर', 'जुआरी-खुआरी' आदि रूपक और नाटक भी लिखे हैं। सं० १९५१ में इनकी मृत्यु हुई।

पं० बालकृष्ण भट्ट—ये प्रयाग के रहने वाले थे। इनका जन्म सं० १९०१ में हुआ। हिन्दी में सबसे प्रथम आपने ही छोटे-छोटे निबन्ध लिखना आरम्भ किया। आपके निबन्धों की भाषा सरल, मुहावरेदार और चलती हुई होती थी। इन्होंने सं० १९३१ में 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्र निकाला, जिसका सम्पादन वे तीस वर्षों तक करते रहे। इस पत्र में सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक आदि विविध विषयों के निबन्ध निकलते रहे। भट्ट जी के निबन्धों में भी मिश्र जी की भाँति मनोरंजन का पुट रहता था। इनकी रचना में खड़ी बोली के साथ पूर्वी का भी प्रयोग मिलता है।

सं० १९४३ में भट्ट जी ने श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक की समालोचना करके समालोचना के मार्ग का सूत्रपात किया। इनकी लिखी हुई पुस्तकें 'रेल का विकट खेल', 'बाल विवाह नाटक', 'सौ अजान एक सुजान' 'नूतन ब्रह्मचारी', 'कलिराज की सभा' और 'चन्द्रसेन नाटक' आदि हैं। इनके निबन्धों का संग्रह 'साहित्य सुमन' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनकी मृत्यु सं० १९७१ में हुई।

पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—इनका जन्म सं० १९१२ में मिर्जापुर में हुआ था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। आप भारतेन्दुजी के घनिष्ठ मित्रों में से थे। आपका स्वभाव और व्यवहार रईसाना था। अधिकतर आप साहित्यिक गद्य ही लिखते थे। आपके गद्य में बड़ी सजीवता और लालित्य होता था। आपने 'आनन्द-कादम्बिनी' नामक पत्रिका भी निकाली, जिसमें आपके नाटक, प्रहसन और निबन्ध प्रकाशित होते रहते थे। 'आनन्द-कादम्बिनी' के समाचार तक आलंकारिक भाषा में सजे हुए होते थे। 'नागरी-नारद' नामक पत्र भी आपने निकाला था। आपने 'भारतीय सौभाग्य', 'प्रयाग रामागमन' और 'वीरांगना रहस्य' नामक नाटक भी लिखे। भट्ट जी की भाँति आपने समालोचनाएँ भी लिखीं। सं० १९७९ में आपकी मृत्यु हुई।

पं० अम्बिकादत्त व्यास—आपका जन्म सं० १९१५ में हुआ था। व्यास जी संस्कृत के श्रेष्ठ विद्वान् थे. साथ ही कई प्रान्तीय भाषाओं के ज्ञाता भी। आप सनातन-धर्म के उपदेशक थे। आपने हिन्दी में अच्छी रचनाएँ की हैं। 'विहारी-विहार', 'अवतार-मीमांसा', 'गद्यकाव्य-मीमांसा', 'आश्चर्य वृत्तान्त', 'ललिता नाटक' और 'गो-संकट नाटक' आपकी अच्छी रचनाएँ हैं। 'विहारी-विहार' में विहारी के दोहों पर कुंडलियाँ वनाई गई हैं। आपकी भाषा में प्रौढ़ता तथा गम्भीरता थी। आपकी मृत्यु सं० १९५७ में हुई।

ठाकुर जगमोहनसिंह—आपका जन्म सं० १९१४ में हुआ। आप मध्य प्रदेश के विजय राघवगढ़ के राजकुमार थे। आप हिन्दी के सुविज्ञ लेखक थे। ठाकुर साहव ने अपनी रचनाओं में प्रकृति का वड़ा मनमोहक वर्णन किया है। 'श्यामा-स्वप्न' नामक आपकी पुस्तक वड़ी सुरुचिपूर्ण और सुन्दर रचना है। ठाकुर साहव की रचनाओं में भावों की प्रबलता और भाषा का सौष्ठव दोनों ही देखने को मिलते हैं। आपकी भाषा संस्कृत-मिश्रित हिन्दी है, परन्तु उसमें नीरसता एवं कृत्रिमता नहीं आने पाई है। आपकी मृत्यु सं० १९५६ में हुई।

इनके अतिरिक्त वा० तोताराम, पं० राधाचरण गोस्वामी, ला० श्री निवासदास, वा० राधाकृष्णदास आदि इसी युग के लेखकों में हैं। वावू तोताराम ने अलीगढ़ से 'भारत-वन्धु' नामक पत्र निकाला था। इन्होंने हिन्दी-हित-साधन के लिए 'भाषा-संवर्द्धिनी' नाम की एक संस्था भी स्थापित की थी।

पं० राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेन्दु' नाम का एक पत्र वृन्दावन से निकाला था, जो कुछ दिन चलकर वन्द हो गया। इन्होंने कुछ नाटक लिखने के अतिरिक्त 'विरजा', 'जावित्री', और 'मृण्मयी' उपन्यासों का वङ्गला से अनुवाद किया।

ला० श्रीनिवासदास जी का 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' नामक नाटक प्रसिद्ध है। इन्होंने 'परीक्षा-गुरु' नाम का एक मौलिक उपन्यास भी लिखा है। इनकी भाषा अपने समकालीन लेखकों से अधिक परिष्कृत, संयत और उद्देश्यानुकूल होती थी। आप मुहावरों का प्रयोग भी अपनी भाषा में करते थे।

बा० राधाकृष्णदास भारतेन्दु के फुफेरे भाई थे । इन्होंने भारतेन्दु जी के अधूरे नाटक 'सती प्रताप' को पूरा किया । इनका 'महाराणा प्रताप' नामक प्रसिद्ध नाटक है । इन्होंने कई बङ्गला-उपन्यासों का अनुवाद किया था ।

ब्रजभाषा-पद्य-धारा : प्राचीन परिपाटी

यद्यपि भारतेन्दु जी के समय में गद्य-साहित्य में काफी परिवर्तन हो चुका था, तथापि पद्य-धारा अभी प्राचीन परम्परा में ही वह रही थी । इसका एक प्रमुख कारण तो यह है कि यह गद्य के विकास का युग था, पद्य की ओर किसी ने अधिक ध्यान नहीं दिया था । गद्य के लिए ही खड़ी बोली का उपयोग किया गया और पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही । ब्रजभाषा अपनी सरलता और मधुरिमा के कारण साहित्य में अपना स्थायी स्थान बना चुकी थी, अतः इतने अल्प काल में उसका सर्वथा निर्मूल होना असम्भव ही था । दूसरा कारण यह है कि यह सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का युग था । सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के लिए प्रचार-कार्य की अधिकता रही और प्रचार-कार्य गद्य में ही सुगमता से हो सकता था, इसलिए पद्य की ओर ध्यान नहीं दिया गया। गद्य की इस समय अत्यन्त आवश्यकता थी, इसलिए पद्य पर ध्यान देने का प्रश्न ही नहीं उठता । इन्हीं कारणों से पद्य की पुरानी परिपाटी प्रचलित रही। हाँ, भारतेन्दु के साहित्यिक क्षेत्र में आने से कविता के विषय और भावों में परिवर्तन अवश्य हुआ, शृङ्गार का स्थान राष्ट्र-प्रेम ने ले लिया, किन्तु भाषा और शैली पुरानी ही चलती रही । इस राष्ट्रीय उद्‌बोधन की चर्चा हम बाद में करेंगे, पहले इस काल के प्राचीन कवियों का संक्षिप्त परिचय दे दें ।

सेवक—इनका जन्म सं० १७८२ में और मृत्यु १८३८ में हुई । ये ठाकुर कवि के प्रपौत्र और ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे । इन्होंने 'वाग्विलास' नाम का एक बड़ा ग्रन्थ नायिका-भेद पर बनाया । इसके अतिरिक्त बरवै छन्द में एक छोटा सा 'नख-शिख' भी इन्होंने लिखा था । ये बड़े ही रसिक जीव थे । अब कुछ बूढ़े रसिक इनके इस सवैये को गुनगुनाते हैं—

कवि सेवक बूढ़े भए तो कहा—
पै हनोज है मौज-मनोज ही को ।

महाराज रघुराजसिंह—रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह का जन्म सं० १८८० में और मृत्यु सं० १९३६ में हुई। इन्होंने 'राम-स्वयंवर' नामक वर्णनात्मक प्रवन्ध काव्य की रचना की। यह इनका वड़ा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त इनके 'रुक्मिणी-परिणय', 'रामाष्ट याम' आदि भी अच्छे ग्रन्थ हैं।

सरदार—इनका कविता-काल सं० १९०२ से १९४० तक कहा जाता है। ये काशी-नरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह के आश्रित थे। ये वड़े सिद्धहस्त और साहित्य-मर्मज्ञ थे। इनके रचे 'साहित्य-सरसी', 'वाग्विलास', 'षट्ऋतु', 'हनुमन्तभूषण', 'राम-रत्नाकर' तथा 'साहित्य सुधाकर' इत्यादि काव्य-ग्रन्थ वड़े मनोहर हैं। इन्होंने हिन्दी के प्राचीन काव्यों पर टीकाएँ भी की हैं।

राजा लक्ष्मणसिंह—ये हिन्दी गद्य के प्रवर्त्तक होने के साथ-साथ व्रजभाषा के अच्छे कवि भी थे। इनका उल्लेख पीछे आ चुका है। इन्होंने दोहों और चौपाइयों में 'मेघदूत' का वड़ा सुन्दर अनुवाद किया है। इनकी कविता में अत्यन्त मधुरता और सरलता होती है।

लछराम ब्रह्मभट्ट—इनका जन्म सं० १८९८ में वस्ती जिले के अमोढ़ा नामक स्थान में हुआ था। भारतेन्दु-काल के पुरानी परिपाटी पर व्रजभाषा की कविता करने वालों में ये वहुत प्रसिद्ध कवि हैं। ये समस्या-पूर्तियाँ वहुत जल्दी करते थे। इन्होंने सभी रसों पर कविता की है। कई राज-दरवारों में इनका सम्मान हुआ था।

गोविन्द गिल्ला भाई—इनका जन्म सं० १९०५ में भावनगर रियासत के अन्तर्गत सिहोर नामक स्थान में हुआ था। इनके पास व्रजभाषा के काव्यों का वड़ा अच्छा संग्रह था। व्रजभाषा की कविता इनकी वड़ी सुन्दर और प्राचीन कवियों की टक्कर की होती थी। इनके 'नीति विनोद', 'शृंगार-सरोजिनी', 'षट्-ऋतु', 'पावस-पयोनिधि', 'वक्रोक्ति-विनोद', 'प्रारब्ध पचासा' तथा 'प्रवीन सागर' इत्यादि वड़े अच्छे ग्रन्थ हैं।

नवनीत चतुर्वेदी—ये मथुरावासी थे। इनका जन्म सं० १९१५ में और

मृत्यु १९९९ में हुई । प्राचीन परिपाटी के आधुनिक कवियों में उन्होंने बहुत ख्याति प्राप्त की है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—इनका जन्म सं० १९२३ में और मृत्यु १९८९ में हुई। ये ब्रजभाषा के अनन्य भक्त थे । जब खड़ी बोली पद्य में भी अपनी चरम विकास को पहुँच चुकी थी, तब भी आप ब्रजभाषा में कविता करते थे। आपने 'हरिश्चन्द्र,' 'गंगा लहरी' आदि कई ग्रन्थ लिखे, किन्तु 'उद्धव शतक' और 'गंगावतरण' ने बहुत ख्याति प्राप्त की । 'उद्धव शतक' भाव-प्रधान ग्रन्थ है और 'गंगावतरण' कथात्मक काव्य है । 'उद्धव शतक' आपने भक्ति युग की भावनाओं पर लिखा है, फिर भी आपने शृंगारयुगीन आलंकारिकता के सामंजस्य से उसे अत्यन्त रमणीय बना दिया है । कृष्ण और गोपियों की विरह-वेदना का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । 'गंगावतरण' में शृंगार, वीर, हास्य आदि सभी रसों की सामग्री संपुटित है । आधुनिक ब्रजभाषा के कवियों में आपका स्थान सर्वोपरि है। 'गंगावतरण' के एक छन्द का नमूना देखिए :

छहरावति छबि कबहूँ कोउ सित सघन घटा पर।
फबलि फैलि जिमि जोन्ह छटा हिम प्रचुर पटा पर ॥
तिहि घन पर लहराति लुरति चपला जब चमकै।
जग प्रतिबिम्बित दीप-दाम-दीपित-सी दमकै ।[1]

राय देवीप्रसाद पूर्ण—आप कानपुर के निवासी थे । आपका जन्म सं० १९२५ में और मृत्यु १९७० में हुई । आपकी रचनाओं में प्राचीन परिपाटी की शृंगारिकता के साथ-साथ देश-भक्ति की भावनाओं की अभिव्यंजना भी रहती है। आपकी ब्रजभाषा विशुद्ध और संयत है । आपका ऋतु-वर्णन बड़ा सुन्दर है। आपने 'मेघदूत' का हिन्दी में बड़ा सुन्दर अनुवाद किया है। इनकी कविता का उदाहरण देखिए :

परसि सलिल तेरो सीतल है पौन जौन,
ताके मन्द झूकन जगैयो प्रान प्यारी को।
मुकलित मालती समूहन के साथ-साथ,
प्रफुलित कीजियो पयोद ! सुकुमारी को ॥

होकर चकित जबै ताके सो झरोखें ओर,
दामिनी वलित वेस बानक तिहारी को।
लागियो सुनावन सरस सोरपारे वैन,
नीरद सुहावन ! वा मान जागे नारी को।।

पं० सत्यनारायण कविरत्न—आपका जन्म सं० १९४१ में आगरा जिले के अन्तर्गत धाँधूपुरा नामक ग्राम में हुआ था। आप श्रीकृष्ण और उनकी व्रज-भूमि के अनन्य भक्त थे। आपके काव्य में व्रजभाषा के सहज माधुर्य के दर्शन होते हैं। आपने प्रेम और शृंगार रस की भी कविता की है। आपका प्रेम बहुत उच्च कोटि का है। आपने प्रकृति का भी बड़ा सुन्दर और सजीव चित्रण किया है। आपने 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' का हिन्दी में बड़ा सुन्दर अनुवाद किया है। आपकी कविताओं का संग्रह 'हृदय तरंग' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनकी कविता का उदाहरण निम्न है:

सब ओर जितै तितै देखत हौं, दृग मोहिनी मूरत भाइ रही।
चहुँ बाहिर औ' उर-अन्तर में, बहु रूप अनूप दिखाइ रही।।
खिले स्वर्न सरोज मनोहर को, जिहि आनन ओप लजाइ रही।
अति नेह सों मो-दिस लाज-पगी, निज पीठि कछू तिरछाइ रही।।

वियोगी हरि—पं० हरिप्रसाद जी द्विवेदी 'वियोगी हरि' का जन्म सं० १९५३ में कान्यकुब्ज ब्राह्मण-वंश में हुआ था। आधुनिक युग में व्रजभाषा के काव्य-प्रणेताओं के अन्तर्गत उनका स्थान प्रमुख है। बाबू जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' के अनन्तर व्रजभाषा के कवियों में हम उन्हें ही सर्वोत्कृष्ट पाते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में वीर-प्रशस्ति-युग के वीर-भाव और भक्ति युग के उपासना-भाव को ही प्रमुख रूप से प्रश्रय प्रदान किया है।

हिन्दी की आधुनिक काव्य-रचनाओं में वीर रस का अभाव देखकर वियोगी हरि जी ने अपनी 'वीर-सतसई' की रचना की। व्रजभाषा की सतसई-परम्परा में उनके उपर्युक्त ग्रन्थ का अपना पृथक् महत्त्व है। इसमें उन्होंने शृंगार युग की विलासोन्मुख भाव-धारा को प्रतिगामी रूप में स्वीकार करके समाज के सम्यक् विकास के लिए वीर-भावनाओं की स्वस्थ अभिव्यंजना को

ही सर्वप्रमुख माना है। राष्ट्रीय कवि होने के कारण स्वतन्त्रता के पुण्य वातावरण को ही सर्वाधिक अपेक्षित मानते हुए वे कहते हैं :

पराधीनता-दुःख भरी, कटति न काटे रात।
हा ! स्वतन्त्रता को कबै, ह्वै है पुण्य प्रभात॥

'वीर-सतसई' में वीर रस के अङ्गोपाङ्गों की पूर्ण अन्विति उपस्थित करने की अपेक्षा वियोगी हरि जी ने अध्येता की मानसिक प्रवृत्तियों को उद्‌बुद्ध करने का ही प्रयत्न किया है। वस्तुतः उनका अन्तिम लक्ष्य उसके अन्तराल में शौर्य भावना का स्फुरण करना ही है और इस उद्देश्य की सम्पूर्ति में वे पूर्णतः सफल हुए हैं।

अपने भक्ति-परक काव्य में वियोगी हरि जी ने साधना को आत्मा के विषय के रूप में अंगीकृत करते हुए अपनी विचार-धारा को अत्यन्त भावुक रूप में सम्पादित किया है। उपासना के उचित स्वरूप का निर्धारण करने से पूर्व उन्होंने ईश्वर के सम्बन्ध में गहन चिन्तना की है। हिन्दू-धर्म की प्राचीन रूढ़िवादिता का परित्याग करके उन्होंने अपने मौलिक अध्ययन के आधार पर उपासना के सत्य-परक आदर्श में विश्वास व्यक्त किया है। इसी मान्यता से परिचालित होकर उन्होंने अपने समत्व-भावना के सिद्धान्त की प्रस्थापना की है। उन्होंने ईश्वर को सृष्टि के प्रत्येक तत्त्व में व्याप्त माना है और इसी धारणा के आधार पर हरिजनों के अन्तर में हरि के विशेष रूप से दर्शन किये हैं। राजनीति के प्रांगण में गान्धी जी के निकट अनुयायी रहकर उन्होंने हरिजन-समस्या का निराकरण करने के हेतु प्रचुर रचनात्मक कार्य किया है। साहित्य के क्षेत्र में भी इसी भावना का प्रतिपादन करने के हेतु उन्होंने हरिजनों के मुख से गहन आत्म-विश्वास के साथ यह कहलाया है :

माधव आज कहौ किन साँची।
क्यों हम नीचन तें हरि रूठे, ऊँचन में मति राँची॥
यंत्रित वज्र कपाटनि गढ़ए, दृढ़ मन्दिर तुम पाए।
बलिहारी रणछोड़नाथ जू, भले भाज इत आए॥